

वेद और भारतीयताका उपास्य-उपासक एवं मैत्रीभाव

(म० म० प० श्रीविश्वनाथजी शास्त्री दातार, न्यायकेसरी, नीतिशास्त्रप्रवीण)

यूरोपीयकुशिक्षया कवलिते धर्माश्रिते भारते
लोके मानसकार्यकर्मवचनैर्दर्सेयतामापिते ।
दुःशिक्षां व्यपनीय धर्मधनुषोद्धर्तुं पुनर्भारतं
सर्वस्वेन कृतोद्यमान् गुरुवरान् साष्टाङ्गपातं नुमः ॥

इस मङ्ग्लाचरणमें वेद और भारतीयताको टिकानेमें जिन गुरुओंने अपना सर्वस्व समर्पित किया है, उन्हें प्रणाम करनेका संकेत प्राप्त है। उसी संकेतके अनुसरणमें 'वेद और भारतीयताका उपास्य-उपासक एवं मैत्रीभाव' विषय प्रस्तुत है।

यह विषय तबतक अवगत नहीं होगा, जबतक वेद एवं भारतीयताके सम्बन्धको समझा न जाय। अतः उन दोनोंके सम्बन्धका निरूपण कर्तव्यतया प्राप्त है। उसके प्रति निर्णायकके रूपमें इतिहास देखना होगा, उसका आरम्भ सृष्टिका आरम्भ है।

सृष्टिकी अक्षुण्ण यात्राको चलाने-हेतु प्रथमतः प्रभुने विधायक कहकर निःश्वासात्मक वेदरूप शब्दराशि प्रदान की। उसका मुख्य उद्देश्य अदृष्ट सम्पत्ति प्राप्त करना समझाया है, जो एकमात्र यज्ञोंसे ही सम्भव है।

इसके पश्चात् दूसरा प्रश्न वेदरक्षण-सम्बन्धी है। उसका समाधान सहज नहीं है, क्योंकि वेदोंकी पवित्रता अक्षुण्ण बनाये रखना सबकी शक्तिके बाहर है। अतः जो कठोर सात्त्विक व्रतमें रहनेकी प्रतिज्ञा करें तथा निर्भान्त होकर उसका आचरण करें, उन्हींके द्वारा वेद एवं उसकी सतेजस्कता सुरक्षित रह सकती है। उसके

अनुबन्धमें यज्ञहेतुतया राष्ट्रगुणसम्पन्न भूमिकी आवश्यकता सोचकर सृष्टिमें यज्ञिय देशके रूपमें भारतभूमि प्रकट हुई, जो अजनाभि-स्थानापन्न है। इस भारतभूमिपर आहुति प्रदत्त होती है तो वह वाष्प बनकर ऊपरकी ओर बढ़ती हुई, सम्पूर्ण भुवनको आप्यायित करती हुई सुधिक्ष, सुवृष्टि एवं सुप्रजा प्राप्त करानेमें सहयोग देती है। यही वेदकी पवित्रता तथा सतेजस्कताका परिपाक है।

स्मर्तव्य है कि भारतभूवासियोंने प्रभुके संकल्प (कठोरव्रत-आचरण)-को समझ कर विश्वासके साथ वेदरक्षणका भार सहर्ष स्वीकारा, अपनेको वेदोंके हेतु समर्पित किया और यह भाव जबतक भारतभूमिके निवासियोंमें अक्षुण्ण बना रहा, तबतक देशमें भारतीयता समृद्ध होती हुई देशान्तर-विजातीयताकी अनुमापक बनी रही।

वेदोंने भी भारतीयतामें उक्त संकल्पकी कार्यान्वयिता देखकर उसका सर्वविधहित साधनेमें सम्पूर्ण सहयोग दिया है, यहाँतक कि भारतीयोंके वचन भी वेदोंके बलसे प्रमाणित होते रहे।

इस अतीत इतिहासका देखनेसे वेद एवं भारतीयताके मध्यमें रहा सम्बन्ध दूसरा न होकर मैत्री-सम्बन्ध यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति—त्रह्वेद १०। ७१। ६) ही स्पष्ट हो रहा है। वेदों और भारतीयताका सम्बन्ध स्थायी होनेसे अनुरागपर्यवसायी हो गया। इस सम्बन्धके याथार्थ्यको असंदिग्ध बनाने-हेतु प्रभुने ब्रह्माजीके हृदयाकाशमें वेद ध्वनित कराया और

कहा कि वेदोंको देखकर उसके प्रति अनास्था न करते हुए सृष्टिकी रचना करनी होगी तथा उनके संरक्षणार्थ सत्त्व, पवित्रता, निर्दम्भतासे सम्पत्र पुत्रों (ऋषियों)-का निर्माण कर उन्हें वेद सौंपने होंगे।

वेदप्रभुका दूसरा स्वरूप शब्दब्रह्म है। अतः कहना होगा कि वेद शब्दमात्र नहीं, अपितु जीवित ईश्वरतत्त्व ही हैं। यदि वे यथावत् प्राप्त हों तो ईश्वर ही प्राप्त हैं—ऐसा भारतीयोंका समझना है, जो यथार्थ भी है।

वेदों अथवा भारतीयतामेंसे किसी एक या दोनोंकी अवहेलना होती रहे तो ईश्वर भी उस अपमानयिता व्यक्तिसे अति दूर होकर रहते हैं, इसलिये कि वेद जीवित हैं तो भारतीयता जीवित है और भारतीयता जीवित है तो वेद जीवित हैं—ऐसा होना प्रत्यक्ष सिद्ध है।

वेद एवं भारतीयताका सहज मैत्रीसम्बन्ध सृष्टिके आरम्भसे ही होनेके कारण श्रीराम एवं लक्ष्मणजीके सेवक-सेव्य-सम्बन्धकी तरह ही सहज है।

वेदोंसे आबद्ध भारतीयता एवं भारतीयतासे आबद्ध वेद, मित्रताके लक्ष्य-लक्षणकी दृष्टिसे जबतक शुचिता आदि गुणोंसे सम्पत्र हैं, तबतक वेद सखा होकर दासकी तरह भारतीयताको उज्ज्वलित करते हैं। यही युक्ति वेदोंके प्रति व्यवहार करनेवाली भारतीय तत्त्वोंमें समझनी होगी। उसके मूलमें—‘यावदुपकरोति तावन्मित्रं भवति, उपकारलक्षणं हि मित्रम्’ (नीतिसार) यह उक्ति स्मर्तव्य है।

वेद एवं भारतीयता दोनोंमें संघटित मैत्री अक्षुण्ण होनेपर भी वेद रक्षक तथा भारतीयता रक्ष्या होनेसे वेद प्रधान (स्वामी) माने जाते हैं। भारतीयता उनकी स्व (सम्पत्ति) होनेसे द्रव्य प्रकृतिके रूपमें समझी जाती है।

उपर्युक्त सख्यको समझनेका निष्कर्ष अव्यक्त ईश्वरको देखनेका उपाय समझनेमें है। अतः वेदकी दासता स्वीकारनेका निष्कर्ष उसके बताये सनातन-विधिके पालनमें है। आशय यह है कि वेदप्रोक्त सनातन-विधिका पालन दासभावसे होता रहेगा तो प्रभुकी कृपा या प्रसन्नता होनी अवश्यम्भावी है—यही भगवदुपलब्धि है। वेदोंके द्वारा सुने गये सनातन-विधिकी विशेषता तबतक समझमें नहीं आयेगी, जबतक ईश्वरकृपाप्रसादकी अवश्यम्भाविता (व्याप्त्यता) संदिग्ध होगी। अतः उसका निरास होना अपेक्षित है।

चिन्त्य है कि वेद-ईश्वरके निःश्वास हैं अथवा ईश्वरनिःश्वास ही वेद हैं? यह सौभाग्य लौकिक शब्दोंकी प्राप्त नहीं है; क्योंकि वे (लौकिक शब्द) जिनके निःश्वास हैं, वे अल्पज्ञ

एवं काल-देश-विशेषकी सीमासे घिरे हैं तथा अपनी काल-देश-सीमाके बाहरी तत्त्वोंके प्रति अनभिज्ञ होनेसे भ्रान्त भी हो सकते हैं। वेद जिनके निःश्वास हैं, वे काल-देश-सीमासे सीमित नहीं हैं, न तो अल्पज्ञ हैं। इस अन्तरको समझकर साधारण लोकको अपने निःश्वासभूत शब्दके पूज्यतार्थ प्रमाणान्तरकी अपेक्षा आवश्यक है।

यदि उक्त अपेक्षामें कोई प्रमाण विरोधितया उपलब्ध नहीं है तो लोकनिःश्वासभूत शब्दकी प्रमाणता असंदिग्ध है।

यदि लोक (सिद्ध महात्माओं)-के निःश्वास ही आपसमें टकरायें तो उस अवस्थामें मनीषियोंने यही निर्णय सुनाया है कि पुरातन निःश्वासके विरोधमें भावी निःश्वासरूप शब्दकी प्रमाणता संदिग्ध है। अतएव मनीषी विद्वान् स्वनिःश्वासात्मक शब्दप्रमितता समझाने-हेतु पूर्ववर्ती विद्वानोंके निःश्वासकी या स्वानुभव-प्रत्यक्षानुमानकी दुहाईको प्रकट करते हैं।

वेदात्माके निःश्वासमात्र उक्त लोक-निःश्वासके विपरीत हैं, क्योंकि वेद अपने द्वारा प्रतिपादित अर्थकी प्रमितताके प्रति एकमात्र स्वनिःश्वासकी दुहाई देते हैं, जबकि निःश्वासान्तर अपने प्रमिततार्थ लौकिक प्रमाणकी दुहाई सुनाते हैं। यही ईश्वरनिःश्वासकी स्वतःप्रमाणता तथा लोकनिःश्वासकी परतःप्रमाणता है।

अब प्रश्न है कि वेदोंमें कौन-सा तथ्य निहित किया गया है, जिसको समझाने-हेतु यहाँ प्रथमतया वेद अपेक्षित हो एवं उनसे समझे गये तथ्यकी लोकयात्राके प्रति उपयोगिता समझकर लोक प्रवृत्त हों।

उसके उत्तरमें गीतावाक्य स्मर्तव्य हैं—

सहयज्ञः प्रजाः सृष्टा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

अर्थात् (१) देवता एवं हविर्द्रव्य, (२) यागसे प्राप्तव्य फलके प्रति कारणता तथा (३) तत्-साधक अदृष्ट—इन तीन तत्त्वोंकी ओर भारतीयोंको प्रवृत्त कराकर उनकी त्रिवर्गसमृद्धि पूर्ण कराना वेदोंकी अपनी स्वतन्त्र विशेषता है। वेदोंके विरोध, प्रातिकूल्य तथा अनभिमतमें जो भी शब्दात्मक निःश्वास श्रुत होंगे, उनकी प्रमाणताको मनीषी लोग प्रमाणतया स्वीकार नहीं करते। वेदोंके चिन्तक मनीषियोंको यह अनुभव अभीतक हो रहा है कि वे जब वेदोंको ज्ञानभण्डार समझ कर उसमें निहित एक-एक कणका शोधन करनेमें प्रवृत्त होते हैं तो उनको वेदोंकी यथार्थतापर विस्मय होता है, इसलिये कि

वेदकी यथार्थवक्तुता अबाधित है। इसकी उपपत्तिका मूल सर्वज्ञ ईश्वरका अन्तर्नाद है, जो भ्रान्तिसे सर्वथा दूर है। वह नाद ईश्वरका निःश्वास है, जो उदर्द्य अग्निकी उच्छ्वलित धारकी परा वाणी है, वह सर्वसमर्था सर्वज्ञा है।

परमात्माके परा, पश्यन्ती एवं मध्यमाके माध्यमसे प्रकट उनकी उदर्याग्नि ज्वालाका नाद ज्ञानरूप है तथा उसके साथ वह वर्ण कदम्बात्मक है, जैसा कि शास्त्रवाक्यसे स्पष्ट है—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।'

(वाक्यपदीय भर्तृहरिकृत)

ईश्वरके दीर्घजीवी अतिस्वस्थ होनेसे उनके निःश्वास नित्य एकरूप हैं, अतः वेद भी एकरूप हैं। इसीलिये वेदोंकी अपौरुषेयता है।

वेदोंको विद्या इसलिये कहा जाता है कि उससे धर्माधर्मरूप यज्ञकी प्रक्रिया विदित होती है। इसके प्रमाणमें नीतिसारीय जयमंगलाका वाक्य निम्न है—

'धर्माधर्मवेदनाद्वेदास्ते च कार्यपिक्ष्या समुदितास्त्रयीसंज्ञकाः।'

इस प्रकार वेद एवं भारतीयतामें रहा उपास्य-उपासकभाव-सम्बन्ध भी सुचिन्त्य हो जो—‘नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वं०’ इस वाक्यसे स्मृत है। उपास्य-उपासकभाव-सम्बन्धके सम्बन्धी उपास्य वेद अनेकविध ईश्वरार्चावितारोंमेंसे एक अर्चावितार है, यह अर्चावितार वेद बाहरसे कर्मयोग एवं अन्तस्तलसे भक्तियोगकी शिक्षा देता है। वेदरूप अर्चामूर्ति उपास्य होकर भारतीयोंके मस्तिष्क या हृदयमें भूतावेशन्यायेन निवास करते हुए उनका संरक्षण करती है तथा विरोधी तत्त्वोंका उत्पीड़न करती रहती है।

यह उपास्य-उपासकभावसम्बन्ध भी ईश्वर-प्रसूत होनेसे भारतीयोंके लिये उपेक्ष्य नहीं है।

वेदरूप अर्चावितारने यहाँतक छूट दे रखी है कि उस अर्चकी एकाग्र, तेजस्वी उपासक जहाँ भी रहते हों, उस स्थलीपर देव, तीर्थ ही नहीं स्वयं ईश्वर भी निवास करते हैं। वेदरूप अर्चावितार पवित्रतापर बहुत ध्यान रखने-सम्बन्धी भारतीयतासे सम्पन्न उपासकोंका इतिहास भी मननीय है। उससे यह निर्विवाद है कि वेदोंकी मर्यादा भारतीय उपासकके हृदयमें तभीतक है, जबतक वे वेदोंकी इच्छाको समझकर दासभावमें उनकी पवित्रता बनाये रखते हैं। जैसे—मन्दिर आदिमें ईश्वरकी व्यावहारिक मूर्तिके अनुरूप उनकी पवित्रताको बनाये रखना सभी भारतीयोंका कर्तव्य माना जाता है। यही तथ्य वेदोंकी पवित्रताके विषयमें भी चिन्तनीय है।

उपास्य-उपासकभावमें एक तथ्य यह भी स्मरणीय है कि मूर्तिके पूजक एक ही रहेंगे तो मूर्तिकी पवित्रता कथमपि टिक नहीं सकती। अतः तदङ्गतया पृथक्-पृथक् कार्य करने-हेतु जो अधिकारिण नियुक्त होते हैं, वे सभी जब अपना-अपना कार्य सम्पन्न करते हैं तो मन्दिरस्थ मूर्तिकी पवित्रता बनी रहती है। फलतः सभी उपासक ईश्वरके प्रसादाधिकारी माने जाते हैं। उसी प्रकार परमेश्वरद्वारा वेदोंकी शुचिताके अनुरूप उसके रक्षणार्थ तत्-तत् व्यक्तियोंकी नियुक्तिका स्पष्टीकरण श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें द्रष्टव्य है। वह जबतक बनी रहती है तबतक भारतीयता एवं वेदोंके उक्त दोनों पारस्परिक सम्बन्ध बने रहते हैं, अन्यथा नहीं।

यदि उपर्युक्त दोनों सम्बन्ध टिके हैं तो वेदोंकी तेजस्विता और भारतीयताका स्वातन्त्र्य, गुरुत्व, ऐश्वर्य तथा श्री आदिका स्थैर्य बना रहता है।

वेदोंने भारतीयोंके हृदयमें स्वार्थ (गूढार्थ) प्रकाशित करनेकी दो रीतियाँ अपनायी हैं। तदन्तर्गत एक रीति रामायण आदि है। जैसा कि—‘वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना’ से स्पष्ट है। दूसरी रीति यह है कि पुण्यात्माके हृदयमें स्वयं वेदार्थ प्रतिभासित होते रहते हैं। उनको अध्ययनकी अपेक्षा नहीं रहती।

उपर्युक्त दोनों रीतियोंके अतिरिक्त एक रीति यह स्मर्तव्य है कि सृष्टिके आरम्भ होते ही उसके योगक्षेमार्थ प्रभुने विधान बनाकर उसको वेदग्रन्थसे प्रकट कर वेदोंके सुरक्षार्थ पारम्परिक वंशको अधिकृत किया है। उसकी विशेषता यह है कि सम्पूर्ण भारतीयोंको अंकुशमें रखना सिखाया गया है। वह अंकुश है वृद्धोंका आदर एवं विनय। जबतक यह समाजमें अक्षुण्ण रहा, तबतक वंश और समाजकी रचना स्वर्णयुगसे विख्यात थी, जो अन्य समाजमें दुर्लभ है। तदितर साधारण तथ्य सोचकर साधनतया अंकुश और विनय तथा फलरूपमें स्वर्णयुगकी व्यवस्था भारतीय समाजमें स्थिर बनानेके विचारसे वेदोंने सबके सामने कठोरता प्रकट करते हुए—‘ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गे वेदोऽध्ययो ज्ञेयश्च’का विधान किया तथा जीविका-हेतु उच्छ-शीलवृत्ति विहित की। जो अन्य समाजोंके लिये उपेक्षास्पद (विस्मयास्पद) है। अतएव उक्त वृत्तिमें रहनेवाले वेदोपासक त्यागी कुम्भीधान्य कहे गये हैं।

उपर्युक्त त्यागी, कुम्भीधान्य, कुटल आदि विप्रोंका

चिन्तन कविने निम्नरूपसे किया है—

नास्माकं कटकानवाजिमुकुटाद्यालंक्रियाः सल्लियाः ।

नोन्तुंगस्तुरगो न कश्चिदनुगो नैवावरं सुन्दरम् ॥

सृष्टिसे लेकर अक्षुण्णरूपसे रहे ऐतिहासिक युगको भूलनेपर तद्व परिणामको मनुजीने भारतीयोंको इस प्रकार समझाया है—

अद्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।

सहस्रशः समेतानां परिषत्वं न विद्यते ॥

(मनु० १२।११४)

एवं—

गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् ।

प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्वैव विप्राञ्छूद्रवदाचरेत् ॥

(मनु० ८।१०२)

उपर्युक्त विवेकसे वेद एवं भारतीयताके उपास्य-उपासकभाव तथा मैत्रीभाव दोनों सम्बन्धका पूर्णरूपेण परिचय प्राप्त कर जिन्होंने उसके संरक्षणार्थ अपना बलिदान किया—उन्हींका मङ्गलाचरणमें नमस्कारका संकेत प्राप्त है।

